

मोक्षमार्ग रहस्य प्रकाशक निष्कारण करुणामूर्ति
 मुमुक्षुजीवों के परम हितरवी जिनवाणी मर्मज्ञ
 पूज्य भाईश्री शशीभाई के
 ८५वें जन्मजयंति महोत्सव प्रसंग पर
 कोटी कोटी वंदन !!



निश्चयरत्नत्रय प्राप्त, परमागम-सुधा के रहस्यज्ञ, जिनमार्ग प्रति अखंड निष्ठावान,
 जिनकी निष्कारण करुणा का नित्य स्तवन करने में भी आत्मस्वभाव प्रगट
 होता है, मोहस्वयंभूरमण समुद्र को भूजा से तीर गये ऐसे हे प्रखर पुरुषार्थ
 के स्वामी! भाव अप्रतिबद्धरूपसे विचरनेवाले, आपके प्रति अचल प्रेम और
 सम्यक् प्रतीति हो, इस भावना सहित आपके चरणों में भक्ति-पुष्प अर्पण
 करते हैं!

- 'स्वानुभूतिप्रकाश' परिवार

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४५: अंक-२४०, वर्ष-२२, नवम्बर-२०१७

आषाढ शुक्ल ४, बुधवार, दि. २२-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१५, गाथा-४२

‘निज शरीर ही निश्चय से तीर्थ व मन्दिर है।’ अब यह अन्दर का आया।

तित्थिँ देवलि देउ णवि, इम सुइकेवलि-वुतु।
देहा-देवलि देउ जिणु, एहउ जाणि णिरुतु।।४२।।

श्रुतकेवली भगवान, जिस ज्ञान में पूर्ण सर्वज्ञ आदि अथवा श्रुतकेवलियों ने ‘तीर्थक्षेत्रों में और देवमन्दिर में परमात्मादेव नहीं...’ ऐसा कहा है परन्तु ‘णिरुतु’ हाँ! ‘णिरुतु’ अर्थात् निश्चय से। समझ में आया? श्रुतकेवली और भगवान सन्तोंने बाहर देवालय में देव नहीं है, परमात्मा वहाँ नहीं है (-ऐसा कहा है)। निश्चय से परमात्मा नहीं। निश्चय से परमात्मा देह-देवल में तेरा आत्मा विराजमान है। समझ में आया?

‘निश्चय से एसा जान...’ देखा? निश्चय से है न पाठ? ‘णिरुतु’ ऐसा जान, ऐसा। ‘देहादेवलि जिणु देउ शरीररूपी देवालय में जिनदेव है।’ भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप विराजमान आत्मा है, उसे तू पहचान और उसकी पूजा कर, यह देव की पूजा है। समझ में आया? उन कुतीर्थों को लेकर अब यहाँ थोड़ा बाहर का डाला है। वहीं का वहीं भटका करे, सम्मेशिखर और वह यहाँ है न, शत्रुंजय, वहाँ मानो भगवान है। वहाँ तो भगवान की स्थापना है। वास्तविक भगवान भी वहाँ नहीं, वे पर भगवान परन्तु वास्तविक वहाँ नहीं, ऐसा कहते हैं। क्या कहा?

जो भगवान की स्थापना की है, वे वास्तविक भगवान भी वहाँ नहीं। वास्तविक भगवान तो समवसरण में विराजमान तीर्थकररूप से वे वास्तविक भगवान हैं और वहाँ तो उन्हें देखेगा तो शरीर और वाणी तुझे अकेले दिखेंगे, भगवान नहीं दिखेंगे; उनका आत्मा नहीं दिखेगा। वह आत्मा कब दिखता है? कि तू तेरा देखेगा तो उनका आत्मा तुझे ज्ञात होगा। उनके आत्मा का ज्ञान कब होता है कि यह भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर हैं? इस रागरहित तेरे आत्मा का ध्यान तू करे तब यह भगवान है-ऐसा तुझे ख्याल में आयेगा, नहीं तो शरीर, वाणी दिखेंगे, समवसरण दिखेगा, लोग दिखेंगे, इन्द्र दिखेंगे। आहाहा..! मानो ऊपर से आये गंगाधर और विद्याधर। समझ में आया? साक्षात् परमात्मा विराजते हों तो वहाँ तुझे क्या दिखेगा? परमात्मा, उनका आत्मा दिखेगा? उनका आत्मा कब दिखेगा? कि तू स्वयं जब उसे राग की आँख छोड़कर, पर को देखना छोड़कर और स्व को देखने जाये, तब तेरा आत्मा ज्ञात होगा (और तब) परमात्मा ऐसे होते हैं (ऐसा ज्ञात होगा)। समझ में आया?

‘शरीररूपी देवालय में जिनदेव है।’ बाहर में तो व्यवहार है। शुभभाव, पूजा, भक्ति का शुभभाव व्यवहार है परन्तु परमार्थ से वहाँ देव है (ऐसा नहीं)। तेरा वह नहीं और परमार्थ से भगवान विराजते हैं, जो आत्मा, वह आत्मा यहाँ नहीं, वह तो स्थापना

निक्षेप है और स्थापना निक्षेप में भी, स्थापना में भी भगवान के गुण गाते हैं न? या मूर्ति के गुण गाते हैं? भगवान ऐसे, तुम भगवान ऐसे, तुम भगवान ऐसे, तुम भगवान ऐसे... परन्तु इस आत्मा की दृष्टि होवे तो उसे ऐसे शुभभाव के भाव को व्यवहार कहा जाता है परन्तु जिसे आत्मदृष्टि नहीं और अकेला

वहीं देखता है, उसे कहते हैं कि आत्मा देव यहाँ है, वहाँ बाहर में कहीं नहीं है। अपने देव को छोड़कर दूसरे देव को पूजने जाये, वह पूजन सच्ची नहीं होती। समझ में आया? इसकी विशेष व्याख्यान करेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

**आषाढ़ शुक्ल ५, गुरुवार, दि. २६-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१६, गाथा-४२**

वास्तव में शरीर ही तीर्थ और मन्दिर है। समझ में आया? यह शरीर ही आत्मा का तीर्थ और मन्दिर है, क्योंकि यहाँ आत्मा बसता है। बाह्य मन्दिर में कहीं यह आत्मा नहीं बसता। आत्मा को देखना और जानना हो-अनुभव करना हो तो कहीं (वह) मन्दिर में नहीं, प्रतिमा में नहीं, तथा साक्षात् भगवान है, उनमें भी यह आत्मा नहीं है। समझ में आया? इस आत्मा को देखना हो, जानना हो तो इस शरीररूपी तीर्थ और मन्दिर में वह दिखेगा। यह आत्मा कहीं भगवान के पास नहीं है। समवसरण में नहीं है कि वहाँ उसके समक्ष देखने से यह आत्मा दिखे।

प्रश्न :- नमूना तो सच्चा है।

उत्तर :- नमूना यहाँ होता है या वहाँ होगा?

मुमुक्षु :- मन्दिर में नहीं?

उत्तर :- नहीं, नहीं; उसमें बिल्कुल नहीं। यह आत्मा वहाँ है या यहाँ है? नमूना यहाँ है या वहाँ है? कहो, यह तो यहाँ ४२ (गाथा में) सिद्ध करना है। समझ में आया?

‘तित्थहि देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि

वुत्तु।’ श्रुतकेवली भगवान,

श्रुतकेवली भगवान ऐसा कहते हैं। यह निश्चय की बात है न? **‘देहादिवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु।’** देहरूपी देवालय में यह जिनेश्वर विराजमान है। देखो! यह वास्तविक तत्त्व। यह तो भगवान है, यह कहीं भावनिक्षेप से वहाँ नहीं। प्रतिमा और मन्दिर है, वह वहाँ भावनिक्षेप से भगवान

है? वह तो स्थापना है।

यहाँ शरीर और यह तीर्थ है। यह शरीर, वह मन्दिर है कि जिसमें भगवान स्वयं अन्दर में जाए तो तीर्थ हो-तिरने का उपाय मिले। कहो, इसमें समझ में आया? इसमें बड़ा विवाद आया था न? इस गाथा में उन्हें संघ से बाहर किया था, ऐसा अर्थ पहले किया तब। सम्प्रदाय में रहने दें? ऐई...! अरे! हमारा मन्दिर... हमारे मन्दिर...! परन्तु उस मन्दिर में तेरा आत्मा वहाँ कहाँ है? तुझे आत्मा का दर्शन, और आत्मा को देखना और आत्मा का तीर्थ करना है या पर का करना है तुझे? हैं?



मुमुक्षु :- बहुत वर्षों तक मन्दिर में थे, स्थानकवासी हैं वे।

उत्तर :- वे थे, सब पता है। सब पता है, कितने वर्ष पहले का पता है। हमारे पास रहे थे न!

श्रुतकेवली, वापस भाषा है, हाँ! श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं। 'वुत्तु...वुत्तु' कि देह देवल में 'देउ जिणु' ऐसा जान। 'गिरुत्तु' इस देह देवालय में भगवान है-ऐसा करके सिद्ध करते हैं कि भाई! तेरा आत्मा तो यहाँ है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अखण्ड आनन्द, वह इस शरीर में विराजमान है, तू अन्दर उसके सन्मुख देख तो तुझे आत्मा मिलेगा या वहाँ मन्दिर में देखने से आत्मा मिलेगा? समझ में आया? क्या है इसमें? भाई! पहली कठिन होती जाती है। यह सब है, वह उत्थापित हो जाता है-ऐसा कहते हैं। कहाँ गया? परन्तु वह तो शुभभाव में वे भगवान कैसे थे-यह स्मरण करने में वे निमित्त हैं। स्मरण करे तो.. परन्तु स्मरण भगवान कैसे थे वे? और वे भगवान कैसे थे, ऐसा मैं हूँ-ऐसा जानने का तो यहाँ आत्मा में है। इसमें समझ में आया?

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर कैसे थे?-उनका सामने एक प्रतिबिम्ब है (कि) ऐसे भगवान। यह भगवान का स्मरण। पर भगवान, हाँ! समझ में आया? उसमें-शुभभाव में वह (स्मरण) निमित्त था। आत्मा वहाँ से प्राप्त होता है या भगवान साक्षात् विराजते हों, वहाँ से आत्मा प्राप्त होता है? ऐ..भाई! अद्भुत बात! एक ओर मूर्ति स्थापित करना, मन्दिर होना और फिर कहे कि उसमें भगवान नहीं। हैं? वहाँ भगवान होवे तो फिर यहाँ अन्दर देखने का नहीं रहता। ऐसे ही (बाहर ही) देखा करे। ऐसे देखने से यह आत्मा दिखे-ऐसा है?-ऐसा साक्षात् भगवान हो, वहाँ देखे (तो) यह भगवान दिखे ऐसा है? इस देहदेवालय को तीर्थ और मन्दिर कहा जाता है, जहाँ भगवान आत्मा विराजता है, परमानन्द निज परमात्मा। उसे देखने के लिए यह शरीर ही तीर्थ और मन्दिर है। ऐसा

व्यवहार है, शुभभाव है।

मुमुक्षु :- तब तो फिर उदासीन और प्रेरक में कोई फर्क रहता ही नहीं।

उत्तर :- यहाँ सब उदासीन ही है; प्रेरक कोई है ही नहीं। प्रेरक तो उसकी गतिवाला हो या इच्छावाला हो तो इस अपेक्षा से प्रेरक कहलाता है। दूसरे के कार्य के लिए किसी प्रेरक में अन्तर है-ऐसा है नहीं। हमारे पण्डितजी तो कुछ बोले नहीं, यह बताया तो भी, सुन लिया। यह दो होकर एक डाला इन्होंने उदासीन-प्रेरक। फिर उदासीन-प्रेरक क्या? कुछ कराता है, उससे होता है, शास्त्र के वाक्य से कुछ ज्ञान होता है, यहाँ से यहाँ (ज्ञान) होता है? धूल में भी नहीं होता। सुन न! यह तो परसम्बन्धी का जो ज्ञान होता है, वह भी तुझसे होता है, उसमें निमित्त कहलाता है। उसमें स्वसम्बन्धी का ज्ञान, देह सम्बन्धी होता ही नहीं। शास्त्र के वाक्य, वे निमित्तरूप हों या मन्दिर आदि निमित्तरूप हों, वह तो परसम्बन्धी के ज्ञान में स्मरण में निमित्तरूप है; उपादान तो वहाँ अपना है। समझ में आया? और अपने स्मरण के लिए उस निमित्त के ऊपर लक्ष्य करे, तब स्मरण होता है अपना? शास्त्र वाक्य हो तो भी वह वाक्य ऐसा है-ऐसा बतलाया है, वह तो परसम्बन्धी का ज्ञान, वह अभी परलक्ष्यी ज्ञान है, उसमें भी उपादान तो स्वयं का ही है; वाक्य (तो) निमित्तमात्र है।

भगवान ऐसे थे, मन्दिर में जाकर (देखे कि) भगवान ऐसे थे, उनके स्मरण में स्मरण तो अपना उपादान है, उसमें वे निमित्त हैं। इस उपादान के स्मरण में वह आत्मा आया है? समझ में आया? यहाँ पर इतनी बात सिद्ध करनी है और फिर दूसरे श्लोक में दूसरे प्रकार से सिद्ध करनी है।

भगवान आत्मा देखो! 'न मन्दिर में, न तीर्थक्षेत्र में, न गुफा में, न पर्वत पर, न नदी के तट पर...' कहीं यह आत्मा नहीं है। है आत्मा कहीं? तो जहाँ नहीं, उसे परमार्थ मन्दिर और तीर्थ

कैसे कहा जाएगा? है तो इस शरीर में है। इसे मन्दिर और इसे तीर्थ कहते हैं कि जो अन्दर में देखने से आत्मा का ज्ञान होता है। समझ में आया? **‘अभी तक जिसने परमात्मा को देखा है, उसने अपने अन्दर ही देखा है।’** लो! इस ओर लिखा है। १७४ पृष्ठ पर। समझ में आया? (पृष्ठ) १४२ वाँ है न? जो अभी तक अनन्त आत्माएँ जो हुए, उन्होंने आत्मा देखा तो अन्दर में देखा है। या बाहर में देखा है? या बाहर के द्वारा देखा है? कहो, समझ में आया? यहाँ तो उत्थापते हैं। वह तो शुभ में भगवान कैसे थे-उनके स्मरण में निमित्तमात्र है, परन्तु वहीं मान ले कि यह भगवान है और इनसे मुझे आत्मलाभ होगा... तो आत्मा तो यहाँ है, वहाँ कहाँ था? समझ में आया? तीर्थ और मन्दिर में भटका-भटक (करता है)। मानो वहाँ से मोक्ष मिल जाएगा; मानो वहाँ से आत्मा आ जाएगा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान.. सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो अन्दर दृष्टि करे तब प्राप्त हो ऐसा है। समझ में आया? अद्भुत बात, भाई! समझ में आया? यह तो फिर दूसरी बात की है।

यहाँ तो अपने इतना (लेना है कि) **‘वर्तमान में परमात्मा का दर्शन करनेवाला भी अपने शरीर के अन्दर ही देखता है; भविष्य में भी जो कोई परमात्मा को देखेगा, वह अपने शरीररूपी मन्दिर में ही देखेगा।’** तीन काल की बात सिद्ध की है। अपने इसमें से सार-सार (लेते हैं)। समझ में आया? अनन्त काल में जितने आत्मा हुए-मोक्ष को प्राप्त हुए या सम्यग्दर्शन-ज्ञान को प्राप्त हुए, वे अन्दर आत्मा के भीतर में से-अन्तर से प्राप्त हुए हैं। कहो, ठीक होगा? हैं? और वर्तमान में पाते हैं, वे भी अन्तर में दर्शन करने से पाते हैं; भविष्य में पायेंगे तो अन्तर में इस आत्मा को देखने से अन्दर आत्मा मिलेगा। इस आत्मा को कोई भूतकाल में बाहर से देखकर पाये, वर्तमान में फिर अन्दर से देखकर पाये और भविष्य में फिर दूसरे प्रकार से पायें-ऐसा होगा? समझ में आया?

चाहे तो तीर्थ हो सम्मोदशिखर और चाहे तो शेत्रुज्जय और चाहे तो मन्दिर (होवे), सब (वे) भगवान सर्वज्ञ परद्रव्य कैसे थे?-उनके स्मरण के लिए निमित्त है। समझ में आया? आत्मा का स्मरण, तो स्मरण कब होता है? कि पहले उसका अवग्रह, विचारधारा होवे तब न? तो उसे पकड़कर विचारधारा कहाँ से प्रगटे? अन्दर लक्ष्य करे, तब प्रगटे या बाहर के लक्ष्य से प्रगटे? तो किसके यह सब बड़े मन्दिर बनाते हो? यह तीन-तीन लाख के मन्दिर! अच्छा होता है, भाई कहते हैं, तुम्हारे अहमदाबाद में अच्छा होगा, हाँ! बड़े सेठ कहलाते हो। भले उसके-लड़के के पिता तो कहलाओ। कहो, समझ में आया? साधारण नहीं चलता। प्रमुख तुम्हारा है या नहीं? यह तुम्हें कहते हैं। कहो, समझे इसमें? आहाहा..! समझ में आया?

यह आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द सम्पन्न है, तो इस आत्मा की प्राप्ति आत्मा के सन्मुख देखकर होवे-ऐसा है या पर के सन्मुख देखकर होवे-ऐसा है? यह आत्मा अन्तर में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द-ऐसा आत्मा यहाँ विराजमान है। अब इस आत्मा के सन्मुख देखना हो तो कहाँ देखना? ऐसा (बाहर में) देखना? अन्तर में अन्दर देखने से आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक है, वह तो अन्तर में देखने से वह भाव ज्ञात हो-ऐसा है, इसलिए वास्तव में आत्मा को यह देह, वही देवालय है। देह ही देवालय है और देह ही वह तीर्थ है कि जहाँ आत्मा प्राप्त होता है। दूसरे देह और देवालय में वहाँ कहीं आत्मा प्राप्त होवे-ऐसा नहीं है। आहाहा..! अद्भुत बात की है। भाई!

मुमुक्षु :- छह आवश्यकों में पहला तो देव-दर्शन आता है।

उत्तर :- देवदर्शन है न? परदेव या यह देव? कौन-सा (देव)? यह क्या चलता है? इस ४२ वीं गाथा में क्या लिया? देखो! **‘तित्थिर्हि देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि’** तीर्थ में, देव में यह देव

नहीं। तीर्थ में और देवालय में यह देव नहीं-ऐसा श्रुतकेवली कहते हैं।

मुमुक्षु :- इसका पर है न इसलिए।

उत्तर :- वे तो पर हैं। वहाँ कहाँ आत्मा था? उसके लिए तो यह लगाई है यहाँ।

योग-अन्दर आत्मा का योग। ऐसा जुड़ा, वह ऐसे जुड़ा? मन्दिर और तीर्थ में देखने से आत्मा दिखता होगा? समझ में आया? आहाहा..! अद्भुत बात!

योगीन्द्रदेव मुनि दिगम्बर सन्त है, वे स्वयं ४२ वें (दोहे में) कहते हैं। वास्तव में शरीर तीर्थ नहीं है, सब बाहर का उड़ा दिया। यहाँ जा और अन्दर देख-ऐसा कहते हैं। लोगों में शोर मच जाये.. हाय... हाय...! सुन न! यह तो भगवान कैसे थे? उसका ज्ञान-परोक्ष स्मरण करने में वे निमित्त हैं। समझ में आया? अथवा जहाँ-जहाँ भगवान मोक्ष पधारे, वहाँ आके ऊपर विराजमान हैं, उनका स्मरण (होता है) कि हो..हो..! परन्तु वे ते पर के द्रव्य के परमात्मा के स्मरण में वे निमित्त हैं। इस भगवान आत्मा की स्मरण के लिए तो अन्दर में जाये तो स्मरण होता है-ऐसा है। आहाहा..! हैं?

मुमुक्षु :- अपने हित के लिए भी निमित्त के सन्मुख देखना ही नहीं?

उत्तर :- निमित्त के सन्मुख देखनेसे, इसे देखा नहीं-ऐसा है। यह योगसार है, योग अर्थात् आत्मा, शुद्ध चिदानन्द में जुड़ना-एकाकार होना। यह ऐसे (बाहर में) एकाकार होने से ऐसे (अन्दर) एकाकार हो-ऐसा नहीं है। ए..भाई! पहुँचा तो वहाँ फिर चिपटे, वहाँ मुक्ति और मोक्ष है... वह तो एक शुभभाव

होता है तब स्मरण में भगवान के स्मरण के लिए ऐसे भगवान थे। उस स्मृत को फिर झुकाना है अन्दर में.. वह स्मृति तो परलक्ष्यी हुई है। समझ में आया? ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर, वैसा मैं हूँ-ऐसा इसे अन्तर में जाए तो इसकी शक्ति की प्रतीति होती है या बाहर में देखने से प्रतीति होती होगी? सम्मदशिखर देखे और शत्रुंजय देखे... दो हजार पुराना मन्दिर है, और पाँच हजार पुरानी प्रतिमा है। इससे भी लाख वर्ष पुरानी हो तो क्या है? परन्तु यह अनन्त काल का प्राचीन यह आत्मा है वह? हैं? आहाहा..!

जब जो जीव अनन्त हुए, उन्होंने इस आत्मा में अन्तर देखा, आत्मा अनन्त आनन्दकन्द है-ऐसा अन्तर में देखा, तब आत्मा की प्राप्ति हुई। कभी बाहर में देखकर आत्मा की प्राप्ति होवे-ऐसा भूतकाल में किसी जीव को हुआ नहीं, वर्तमान में होता नहीं, भविष्य में होगा नहीं। जो जीव, आत्मा अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध ध्रुव चैतन्य में अन्तर योग करेगा-जुड़ेगा, तब उसका ज्ञान होगा और तब इसका कल्याण होगा। आहाहा..! कहो, समझ में आया? फिर तो इन्होंने लम्बी बात की है, उसका कुछ नहीं।

‘कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न...’

करे। लो! कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न करे तो वह सच्ची बात है? वह मूढ़ है या नहीं? वहाँ कहाँ साधु थे? (वह तो) साधु की मूर्ति है। समझ में आया? मूर्ति देखकर पूछे कि महाराज! इसका क्या? तू मूढ़ है, वहाँ कहाँ साधु थे? वह तो स्थापना है। इसी प्रकार भगवान की स्थापना (की हो उसमें) वहाँ कहाँ भगवान थे? समझ में आया? इतना थोड़ा-थोड़ा ठीक है, कोई-कोई बोल। अब, ४३।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (नवम्बर-२०१७) का शुल्क स्व. श्री परिचन्द्र घोषाल परिवार, कोलकाटा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके ८६५ वचनामृत पर भाववाही
प्रवचन, दि. २२-३-१९८५ प्रवचन
क्रमांक-५०४ (विषय : विधि)

सबका सार यह है कि तेरा परको जाननेका तथा परमें स्वाद मानकर रागका स्वाद लेनेका मार्ग शान्तिका नहीं है, जिस कारणसे तू दुःखी हो रहा है। (तुझे) न तो विषयोंका स्वाद है और न ही विषयोंका ज्ञान; परन्तु रागका स्वाद तथा ज्ञानका ज्ञान। विषय पर है, राग क्षणिक है व स्वभावमें नहीं है। ज्ञान-पर्याय ज्ञानस्वभाववानकी है। इस प्रकार राग रहित नित्य ज्ञान-स्वभावीकी दृष्टि होती है। ऐसा समझे तो निमित्तबुद्धि व रागबुद्धि छूटकर

स्वभावबुद्धि होती है, धर्म होता है। ८६५.

८६५. इस बोलमें ज्ञानका स्वरूप बताया है। वैसे तो ज्ञान स्वयं भी अत्यंत गहन विषय है, ज्ञान स्वयं भी बहुत गहन विषय है। यथार्थपने उसे समझमें आये तो पूरा आत्मा समझमें आये और कल्पना करे तो गृहीत मिथ्यात्वका प्रसंग आवे। शुरुसे लेते हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञान समझमें आवे तो पूरा आत्मा समझमें आये?

समाधान :- हाँ, ज्ञानका स्वरूप यथार्थपने समझमें आये तो पूरा आत्मा समझमें आये ऐसा है। जैसा ज्ञानका स्वरूप है, ऐसा यदि समझमें आये तो पूरा आत्मा ऐसा है, ऐसा समझमें आ जाता है। अनन्त गुणका भेद किये बिना अनन्त गुणस्वभावी अनन्त गुणका अखण्ड अभेद स्वरूप कैसा है, वह एक ज्ञानसे समझमें आ जाता है। इसलिये उस दृष्टिकोणसे देखे तो ज्ञानको समझना वह आत्माको समझने बराबर है। और इसलिये ज्ञानको समझना, ज्ञानका स्वरूप समझना वह अत्यंत गहन विषय हो जाता है। अनादिसे स्वयं ज्ञान द्वारा जाननेका कार्य

करनेके बावजूद जिसके द्वारा वह जाननेका कार्य करता है, ऐसे ज्ञानका स्वरूप ही स्वयंने जाना नहीं है। अतः अपना स्वरूपने उसने जाना नहीं। इसलिये उसने आत्माको जाना नहीं है। ऐसा हुआ है। बहुत रसिक विषय है, मुद्देका विषय, महत्त्वपूर्ण विषय है।

क्या कहते हैं गुरुदेव? 'सबका सार यह है कि...' सर्व आगमोंका सार यह है कि 'तेरा परको जाननेका तथा परमें स्वाद मानकर रागका स्वाद लेनेका मार्ग शान्तिका नहीं है,...' क्या कहते हैं? कि पर ओर लंबाकर जिस प्रकार तू परको जान रहा है, वह तेरा परको जाननेका मार्ग शान्तिका नहीं है, बल्कि अशान्तिका है, ऐसा कहना है। परको जाननेकी जो तेरी रीत है, वह अशान्ति उत्पन्न करे ऐसी है। अर्थात् तेरा ज्ञान परको जानने जाता है, तब परको अवलम्बता है, परके साथ एकत्व अध्यास करता है, वह अशान्तिको उत्पन्न करता है, राग-द्वेष-मोहको उत्पन्न करता है, वह तुझे दुःखका कारण होता है।

यहाँ ज्ञान दुःखका निमित्त है। अभी हमारे साथ Accident जैसा हुआ। अचानक कोई मर जाय तो Accident होता है। पहलेसे मालूम पड़ता हो तो अच्छा है। एक चर्चा चली। कोई कहे कि अच्छा है, कोई कहे कि अच्छा नहीं है। अच्छा इसलिए कि कुछ तैयारी करनी हो तो कर लें, वील बनाना हो तो बना ले, डॉक्टरको बुलाना हो तो बुल सकते हैं, पूर्वतैयारीमें कुछ व्यवस्था विचारनी हो तो विचार सकते हैं। कोई कहे कि, वह अच्छा नहीं है। बादमें ऐसा होगा कि अरेरे...! मर जायेंगे, अरेरे...! मर जायेंगे। जानने-जाननेमें अंतर है। चर्चा चली, वह अच्छा अथवा नहीं अच्छा, वह तो योग्यता पर आधार रखता है।

जैसे देवको मालूम पड़ता है, छः महिने पहले उसकी माला मुरझाती है, इसलिये उसे मालूम पड़ता है कि अब यहाँसे छः महिनेमें जाना है। मिथ्यादृष्टि देव है वह झुर-झुरकर मरता है। उसे अत्यंत-अत्यंत आकुलता होती है। क्योंकि पर्यायबुद्धि होनेके कारण उसे वह पर्याय छोड़नी नहीं है, उसे वह संयोग छोड़ने नहीं है। वहाँ उसका परिवार है, वह उसे छोड़ना नहीं है। सम्यग्दृष्टि तो मनुष्य होनेवाले हैं। वह तो आयुष्य पूर्ण होने पूर्व ही मनुष्यगतिको भावनामें भाता है कि कब मैं मनुष्य होऊँ, कब मैं मेरे स्वरूपका आराधन करके पूर्ण होऊँ! क्योंकि मोक्ष तो मनुष्यके सिवा है नहीं। उसे कोई दुःख नहीं होता। जानने तो दोनोंको मिलता है। सम्यग्दृष्टि देवको भी जानने मिलता है और मिथ्यादृष्टि देवको भी जानने मिलता है। जानना वह दुःखका कारण या सुखका कारण नहीं है, परन्तु सुख-दुःख हो, ऐसा उसका जाननेके प्रकारको निमित्त गिननेमें आता है। इतनी बात है।

यहाँ पहले नास्तिसे लिया है कि 'तेरा परको जाननेका...' मार्ग है अर्थात् परको जाननेकी जो तेरी रीत है और परमें स्वाद मानकर एवं परको अनुभव करनेकी जो तेरी परिणाममें पद्धति है, वह शान्तिका उपाय नहीं है, वह अशान्तिका उपाय है। पर पदार्थका स्वाद लेना

अर्थात् पर पदार्थका अनुभव करना। जो जीव पर पदार्थका अनुभव करता हूँ ऐसा मानता है, उसे वह पदार्थ इष्ट या अनिष्ट है, ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। या तो वह पदार्थको इष्ट गिनता है या तो वह पदार्थको अनिष्ट गिनता है। इस तरह पर पदार्थके अनुभवमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि हुए बिना रहती नहीं।

गुरुदेव यहाँ कहते हैं कि 'जिस कारणसे तू दुःखी हो रहा है।' तुझे दुःख उत्पन्न होनेका कोई मूल कारण हो तो तेरे ज्ञानमें जो परिणामनेकी पद्धति है वह जूठी है। वह पद्धति बदलनी जरूरी है और तेरी वह पद्धति बदले तो तेरा दुःख मिटे, बाकी किसी भी प्रकारसे दुःख नहीं मिटेगा। संयोग बढ़ेंगे तो भी संयोगोंका अनुभव करनेवाला, संयोगोंको भोगनेवाला मैं, उसमें आकुलता बढ़ेगी, अशान्ति बढ़ेगी।

पहले संयोग नहीं बढ़े थे उस वक्त बढ़ानेमें सुख है, ऐसी तुझे आशा हुई थी। यदि मुझे संयोगोंकी अनुकूलता हो जाय तो मैं सुखी रहूँ। परन्तु संयोग बढ़नेके बाद अशान्ति रही तब वह धारणा झूठी है ऐसा वह विश्वास करे तो उसे दूसरा कोई विचार आये कि कुछ विचार करने जैसा विषय है सही। परन्तु ऐसे ही संयोग बढ़ानेमें उसका आयुष्य पूर्ण करता है और अशान्ति बढ़ा-बढ़ाकर अवगतिको अथवा दुर्गतिको प्राप्त करता है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी यहाँ कौन-सी पद्धति अपनाते हैं?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानी अपने ज्ञानका स्वाद लेता है और पर पदार्थका ज्ञानमें-अपने ज्ञानमें प्रतिबिम्ब पड़े तब भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है। इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप परिणमता नहीं। अथवा ज्ञानी पर पदार्थको मैं अनुभवता हूँ, ऐसा अध्यास करता नहीं। ज्ञानमें उसे वैसी भ्रमणता होती नहीं। इसलिये पर पदार्थ जाननेके बावजूद मेरा ज्ञान भिन्न रहता है, इस प्रकार भिन्न ज्ञानका वेदन करते-करते भिन्न ज्ञानको अनुभवते-अनुभवते परिणमता है। इसलिये उसे बन्धन नहीं है, ऐसा कहा है। इसलिये उसे बन्धन नहीं है।

इस विषय पर समयसारकी एक गाथा है। ३१६ नंबरकी गाथा है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। उसमें सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् स्पष्ट ज्ञान-निर्मल ज्ञान-सम्यक्ज्ञान कैसा होता है, उस पर अज्ञानीका दृष्टान्त है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी बात एक ही गाथामें है।

**अज्ञानी स्थित प्रकृतीस्वभाव सु, कर्मफलको वेदता।
अरु ज्ञानी तो जाने उदयगत कर्मफल, नहीं भोगता।।३१६।।**

यह संक्षेपमें गाथा है। उसकी टीका करी है कि 'अज्ञानी शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण...' स्वयं शुद्ध आत्मा है, स्व-स्वरूपसे, मूल स्वरूपसे-असल स्वरूपसे स्वयं एक शुद्ध आत्मा है, ऐसे ज्ञानके अभावके कारण स्व-परके एकत्व ज्ञानसे, पर पदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हैं, निमित्त पड़ते हैं, तब वह एकत्व एक लेता है। उसमें दोनोंके बीच भिन्नता-ज्ञान और ज्ञेय भिन्न हैं, ऐसा भेद उसे अनुभवमें नहीं रहता है। उस प्रकारसे वह जानता है, इसलिये अशान्तिका उपाय है।

निज शुद्ध ज्ञानके अभावके कारण, निर्भेल आत्माके (ज्ञानके) अभावके कारण अथवा भिन्न आत्माके ज्ञानके अभावके कारण 'स्व-परके एकत्वज्ञानसे, स्व-परके एकत्वदर्शनसे और स्व-परकी एकत्वपरिणतिसे प्रकृतिके स्वभावमें स्थित होनेसे...' जैसा प्रकृतिका उदय है, वैसा भाव मुझे होता है, मेरेमें होता है, समीप होनेसे चैतन्यमें उसका प्रतिबिंब उठता है, अतः प्रकृति स्वभावमें स्थित होनेसे 'प्रकृतिके स्वभावको भी 'अहं' रूपसे अनुभवता हुआ...' प्रकृतिके स्वभावको अहं रूपसे अनुभवता हुआ 'कर्मफलको वेदता...' है। उस कर्मका विपाक आया है वह फल है। उसे वेदता है अथवा 'भोगता है;...' यह अज्ञानीकी स्थिति है।

'और ज्ञानी तो...' कर्मका उदय तो ज्ञानीको भी है। पूर्व कर्म है न? पूर्व कर्म संचित कर्मका ज्ञानीको भी प्रतिक्षण उदय है। पूर्ण वीतराग सिद्ध नहीं हो जाते तब तक। 'और ज्ञानी तो शुद्धात्माके ज्ञानके सद्भावके कारण स्व-परके विभागज्ञानसे, स्व-परके विभागदर्शनसे और स्व-परकी विभागपरिणतिसे

प्रकृतिके स्वभावसे निवृत्त (-दूरवर्ती) होनेसे...' प्रकृति तो उसे उदयमान है, परन्तु वहाँसे वह भिन्न हुआ होनेसे, हट गया होनेसे, छूट गया होनेसे 'शुद्ध आत्माके स्वभावको एकको ही 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ...' अब ज्ञानके स्वरूपका विचार करते हैं, जो प्रारम्भमें बात कही।

ज्ञानका जानना ऐसा जो उसका स्वभाव है, वैसे अहं पना करना, अहं रूपसे जानना ऐसा उसका स्वभाव है। उसे भोगना ऐसा कहनेमें आता है। जानना और अहं रूपसे जानना, विशेष। तो यह विशेषता जो वह करता है, वह यदि अपनेमें करे तो सम्यक् है और स्वयंको छोड़कर कहीं भी परमें करे तो मिथ्या है अथवा असम्यक् है।

ज्ञानी तो अपने शुद्धात्माके स्वभावको एकको ही अहं रूपसे अनुभवता हुआ 'उदित कर्मफलको...' विपाकमें आये हुए कर्मको 'उसके ज्ञेयमात्रताके कारण...' फिर ऐसा ज्ञात होता है कि ये तो मात्र जाननेका विषय है। जो कुछ भी प्रकृतिका स्वाद है-राग, द्वेष, मोह-चारित्रमोहके हैं न सब? वह सब उदय चारित्रमोहका है, उसे दर्शनमोहका तो उदय नहीं है, तो वह मात्र जाननेका विषय है। उसका स्वाद उसे ज्ञात होता है। परन्तु वह जाननेका विषय-मात्र जाननेके विषयके रूपमें जानता है।

वह 'जानता ही है, किन्तु उसका 'अहं'रूपसे अनुभवमें आना अशक्य होनेसे,...' ऐसा कहते हैं। वह ऐसा जानता है कि ये तो ज्ञेयमात्र है, उसे स्व रूपमें, मेरे रूप जानना ही अशक्य है। अहंपने उसका अनुभव करना वही अशक्य भाव है, वह अशक्य परिस्थिति है। ऐसा 'होनेसे, (उसे) नहीं भोगता।' उसे अनुभवता नहीं।

ज्ञानको जानना हो तो ज्ञानके जो कुछएक धर्म हैं, विज्ञानकी भाषामें जिसे Character कहते हैं, पदार्थके धर्मोंको विज्ञानमें Property कहते हैं और उसके धर्मोंको Character कहते हैं। तो ज्ञानके कितने Character हैं? उसके मुख्य-मुख्य मुद्देका यदि विचार करें तो स्वच्छता

वह ज्ञानका धर्म है। अग्रता, ऊर्ध्वता-अग्रता, मुख्य रहना-आगे रहना वह ज्ञानका धर्म है। देखो! अपनेमें सावधान होना, अहं पने सावधान होना वह भी ज्ञानका धर्म है। क्या है और क्या नहीं है, उसकी जाँच हो जानी, जिसे चिकित्सक धर्म कहते हैं, चिकित्सा वह ज्ञानका धर्म है। ज्ञानको बहुत गहनतासे देखने जैसा विषय है। मात्र ज्ञातापने रहना वह ज्ञानका धर्म है। ज्ञानके अनेक धर्म हैं। ये तो मुख्य-मुख्य मुद्दे हैं। फिर तो जिसकी जितनी निर्मलता उसे अपनेमें उसके पहलू ज्ञात होते हैं, परन्तु यह सब मुख्य-मुख्य मुद्दे हैं।

ज्ञान अर्थात् मात्र इतना समझ लेना कि ज्ञान माने यह सब जाने सो ज्ञान, यह सब ज्ञात होता है वह ज्ञान। इस तरह जानने जैसा नहीं है। ज्ञानका विषय बहुत गहन है और यथार्थ स्वरूपसे यदि वह ज्ञात हो तो पूर्ण आत्मा ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वरूप है। अखण्ड आत्मा ज्ञात हो ऐसा उसका स्वरूप है। ज्ञानसे ही अखण्ड आत्मा, अभेद आत्मा पूर्ण आत्मा, परिपूर्ण आत्मा शुद्ध आत्मा-निज आत्मा ज्ञात हो, ऐसा ज्ञानका स्वरूप है।

यहाँ प्रयोजनका विषय है। शान्ति और अशान्ति, यह जीवको प्रयोजनका विषय है। इसलिये प्रयोजनसे सारभूत बात ली है।

मुमुक्षु :- ... ज्ञानीको ज्ञानमें तो ज्ञात होता है, फिर भी ज्ञानी तो...

पूज्य भाईश्री :- अब क्या है कि खास करके ठीक-अठीकपना जीवको उदयमान पदार्थ, उदयमें जुड़ना हो ऐसे पदार्थोंमें होता है। बाकीके पदार्थोंमें उसे ठीक-अठीकपना नहीं होता है। परन्तु उपेक्षाबुद्धि रहती है। आकाशका दृष्टान्त दिया, परन्तु अमरिकाका कोई प्रसंग जाननेमें आये। ईराक-ईरानका युद्ध अभी TV पर आता है न? ईराक-ईरानका युद्ध होता है। अभी थोड़ी बताते हैं-तोप फोड़नेवाली सब Tanker। उससे कोई राग-द्वेष नहीं होता है। सामान्यतः जिसे जिस पदार्थके साथ सीधा उदयगत सम्बन्ध नहीं है, कर्म और नोकर्मरूप, वहाँ उसे इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं होगी। तो फिर वह प्रश्न होता है

कि तो फिर वहाँ ज्ञानने विपर्यास क्या किया? ज्ञानने विपरीतता क्या की? ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको ऐसा हो... आपका प्रश्न है वह बराबर है कि तो फिर वहाँ विपर्यास किस प्रकारका है? कि किस रीतसे तू जानता है? तू स्वको वेदता हुआ, स्वमें अहंपना-ज्ञानमें अहंपना करता हुआ, आकाशादि या जिससे प्रयोजन नहीं है ऐसे पर पदार्थको जानता है? या (स्वमें) अहंपना नहीं होता है और पर पदार्थको तू जानता है? वहाँ क्या होता है? वहाँ एकत्व होता है, वहाँ अवलम्बन आता है। परको जानते हुए परका अवलम्बन और परका एकत्व होता है। वहाँ वह पदार्थ मेरे ज्ञानसे भिन्न है, ऐसा जानना नहीं होता है।

अब, एक जरा प्रश्न हो ऐसा है कि ऐसा तो कुछ नहीं है कि उस Tanker को देखा और TV को देखा इसलिये मेरेमें TV आ गया है, ऐसा अनुभव तो नहीं होता है। परन्तु उसे मैं जानता हूँ, मुझे नहीं जानता हूँ, मुझे नहीं वेदता हूँ, परन्तु मात्र उसे मैं जानता हूँ। समयसारमें दृष्टान्त है। आकाश, धर्म, अधर्म, कालाणु, पुद्गल सब अन्य पदार्थोंका दृष्टान्त है। और वहाँ उस अन्य पदार्थके दृष्टान्तमें उसे जानता हूँ, ऐसा दोष लिया है। वहाँ उसे जानता हूँ अर्थात् उससे भिन्न रहकर मैं जानता हूँ, ऐसा जानना नहीं होता है। उसे जानते हुए उससे भिन्न रहकर मैं जानता हूँ, ऐसा नहीं होता है।

ऐसा कब हो? और ऐसा कब नहीं हो? उसका विचार करें तो। यदि स्वयं स्वयंको वेदता हुआ, स्वमें अहंपना करे तब स्वयं स्वयंको वेदता-स्वयंको अनुभवता हुआ, ज्ञानमें जो वेदकता धर्म है; अग्रता, स्वच्छता, ऐसे जो वेदकता धर्म है, उसमें स्वयं स्वयंको वेदे ऐसा उसका स्वभावधर्म है, ऐसा यदि स्वका संवेदन-वेदन न रहे, संचेतन न रहे तो वह परको जानते हुए परमें एकत्व होता है। परन्तु एकत्व ऐसा सूक्ष्म होता है कि उसे वहाँ मालूम नहीं पड़ता है। क्योंकि एकत्व जो आनुषंगिक राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होना चाहिये, वह उसे उस वक्त दिखाई नहीं देते।

दूसरे इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें तो एकत्वबुद्धिको वहाँ भी पकड़ नहीं सकता, वहाँ ज्ञानके एकत्वको नहीं पकड़ सकता है। परन्तु वहाँ जो राग-द्वेष-मोहकी तारतम्यता वृद्धिगत होती है वहाँसे नक्की करता है कि ज्ञानमें कुछ दोष होता है। जाननेमें कुछ दोष हो रहा है। ये अशान्ति उत्पन्न हुयी, ये राग हो गया, ये द्वेष हो गया, ये मोह हो गया, ऐसे वहाँसे पकड़ता है। परन्तु वहाँ होता तो है एकत्व। एकत्वको नहीं पकड़ता है। एकत्वको पकड़े तो एकत्व छूट जाय, एकत्व न रहे। क्योंकि वहाँ तो उसे दोनोंका एकत्व करना ऐसी जो सन्धि है, उस पर ज्ञान सूक्ष्म होकर ज्ञानकी छैनी लग गयी। इसलिये भेद हो जाता है। एकत्वमें भेद पड़ता नहीं और भेदमें एकत्व होता नहीं। यह उसका नियम है।

इसलिये यदि ज्ञान अपने संचेतनमें रहे, यदि ज्ञान अपने वेदनमें रहे तो ही उसे एकत्व न हो, अन्यथा उसे एकत्व होता है। एकत्व होता है तब स्थूल राग-द्वेष-मोह हो, और स्थूल राग-द्वेष-मोह नहीं भी दिखाई दे, तो भी एकत्व नहीं हो रहा है (ऐसा नहीं है)। उसका लक्षण क्या है? कि स्वयं स्वयंको वेदता नहीं है-अनुभवता नहीं है। इसलिये जो रीत है, परको जाननेकी जो रीत है वह अशान्तिकी रीत है ऐसा इसलिये कहा कि भाई! तू तुझे जान, तू तुझे वेद, इस रीतमें तू प्रथम आ। तू तुझे जान और तू तेरा वेदन कर। इसमें तू आ जा। फिर परपदार्थ तेरे ज्ञानकी स्वच्छताके कारण प्रतिबिम्बित होंगे यानी ज्ञानमें निमित्त पड़ेंगे तो भी तुझे हरकत नहीं होगी-अशान्ति नहीं होगी, राग-द्वेष-मोह नहीं होंगे। इस तरह रीत बदलनी है। इतनी बात है।

मुमुक्षु :- .. लागू पड़े कि नहीं? सब जीव ... ग्रहण नहीं कर सकता है... तो जब ... तब भी उसकी एकताबुद्धि तो है...

पूज्य भाईश्री :- एकताबुद्धि तो उसकी सर्वत्र है। इसलिये क्या है कि उन सबके साथ उसने ममत्व किया है। एक परमाणुमें जिसने ममत्व किया है, उसने समस्त

विश्वमें ममत्व किया है, वहाँ यह न्याय है। और क्रम-क्रमसे जानना होने पर भी वह उपयोगमें क्रम-क्रमसे जानना होता है, लब्धमें ऐसा कुछ नहीं है। लब्धमें तो समस्त विश्वको गले लगाकर पड़ा है, ऐसी बात है। अतः वह लागू नहीं पड़ता है। वह तो उपयोगमात्रका विषय है। इसलिये ज्ञानकी पर्यायका भी अंशका विषय है। पूरी पर्याय तो दूसरे प्रकारसे काम करती है। पूरी पर्यायमें तो लब्ध और उपयोग मिलकर पूरी पर्याय है।

मुमुक्षु :- लब्ध और उपयोग...?

पूज्य भाईश्री :- मिलकर पूरी पर्याय है। मात्र उपयोग जितनी ही पूरी पर्याय नहीं है। परन्तु लब्ध अंश है, उस विषयकी विचारणा और उस विषयका ग्रहण, उस विषयकी गहराईमें ऊतरकर करे तब समझमें आये ऐसा है। अन्यथा समझमें नहीं आता है, पकड़में नहीं आता।

मुमुक्षु :- परमें जो एकत्व हो रहा है, वह न हो उसके लिये..?

पूज्य भाईश्री :- परमें एकत्व न हो, वह कब बने कि स्वमें एकत्व हो तो परमें एकत्व न हो। और वह एक ही शान्तिका उपाय है, दूसरा कोई शान्तिका उपाय नहीं है।

यहाँ तो अभी प्रथम पंक्तिमें इतनी ही बात है कि **‘तेरा परको जाननेका तथा परमें स्वाद मानकर रागका स्वाद लेनेका मार्ग...’** देखो! परका तू स्वाद लेता है परन्तु हमें मालूम है कि तू परका स्वाद ले सके ऐसी परिस्थिति ही नहीं है, वस्तुस्थिति नहीं है। परन्तु मुझे यह लड्डु मीठा लगता है और वह अच्छा लगता है, मीठास अच्छी है, मीठापन वह अच्छा है ऐसा जो राग, उसका तुझे स्वाद है। वह मार्ग भी बराबर नहीं है, परिणामनेकी वह रीत बराबर नहीं है। वह तुझे अशान्तिका उत्पादक है, तुझे दुःखका उत्पादक है। यह उसके दुःखका निदान किया है। जीवके दुःखका मूल यहाँ रहा है।

‘जिस कारणसे तू दुःखी हो रहा है।’ अब

यह एक वाक्य है। **‘(तुझे) न तो विषयोंका स्वाद है...’** विषयोंका स्वाद तुझे नहीं है, तेरेमें नहीं है और तुझे नहीं है, ऐसा कहते हैं। विषयोंका स्वाद कैसा है, ऐसा ज्ञान होने पर भी उन विषयोंका स्वाद तुझे नहीं है और तुझमें नहीं है। ऐसा है। ज्ञानमें ज्ञेय नहीं है। जो मीठापन आदि है,... दृष्टान्तमें स्वादका दृष्टान्त लेते हैं। बाकी तो सभी पुद्गलके धर्म ज्ञेय हैं। और जितने ज्ञेयोंमें राग करता है उन सबको उसका स्वाद लिया ऐसा कहनेमें आता है, उसका आस्वाद लिया ऐसा कहनेमें आता है। मनुष्यको कड़ुवा-मीठा अनुभव होता है तब ऐसा नहीं कहते हैं? कि क्यों भाई! कैसा स्वाद आया आपको? नहीं कहते? स्वाद यानी अनुभव।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि दूसरे पदार्थ ज्ञात होते हैं, परन्तु दूसरे पदार्थ अनुभवमें नहीं आते। अथवा दूसरे पदार्थका ज्ञान द्वारा अनुभव करना वह अशक्य है। दूसरे पदार्थका ज्ञान अनुभव नहीं कर सकता, जान सकता है, अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि अनुभव करनेमें अहंपना आता है। अनुभव तो अहंपने होता है। जब पर पदार्थमें और रागमें अहंपने अनुभव होता है, तब उस अनुभवको मिथ्या अनुभव कहनेमें आता है। क्योंकि वस्तुस्थिति नहीं है, ऐसी वस्तुस्थिति वास्तवमें है नहीं।

‘(तुझे) न तो विषयोंका स्वाद है और न ही विषयोंका ज्ञान;...’ ज्ञानका ज्ञान है, विषयोंका ज्ञान नहीं है। इसका अर्थघटन दो प्रकारसे होता है। एक तो ज्ञान किसका है? कि कोई परपदार्थका ज्ञान नहीं है। आत्माका ज्ञान है अथवा ज्ञानका ज्ञान है। दूसरा, जो ज्ञात होता है वह तो अन्दरमें जो प्रतिबिंब उठता है वह ज्ञानगोचर होता है। पर पदार्थका जो प्रतिबिंब उठता है वह ज्ञानगोचर होता है। तब उसे पर पदार्थको जाना ऐसा कहनेमें आता है। क्या कहना है?

फिरसे। कोई पर पदार्थ ज्ञानमें ज्ञेयपने निमित्त नहीं होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध उड़ानेका यहाँ प्रश्न नहीं है। विषयोंका ज्ञान नहीं है, ऐसा एक वचन

है, शब्दोंका एक टूकड़ा है। विषयोंका ज्ञान नहीं है अर्थात् ज्ञेयोंका ज्ञान नहीं है। तो ज्ञेय-ज्ञानका सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं कहना है। अथवा ज्ञानका जो स्वयंका स्वपरप्रकाशक स्वभाव अपने कारण है, वह ज्ञानको नहीं है ऐसा भी नहीं कहना है। अथवा ज्ञानकी निर्मलता स्वच्छताके कारण अन्य ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हैं, वह नहीं होते हैं, ऐसा भी यहाँ नहीं कहना है। ऐसा कुछ नहीं कहना है। विषयोंका ज्ञान नहीं है यह कहकर ऐसा कुछ नहीं कहना है। ज्ञान ज्ञानका है और ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिबिंबित होने पर वह ज्ञानगोचर होते हैं, इसलिये ज्ञानका ज्ञान है ऐसा कहना चाहते हैं। विषयोंका ज्ञान नहीं है, ज्ञेयोंका ज्ञान नहीं है, परन्तु ज्ञानका ज्ञान है ऐसा कहते हैं। यह अपेक्षा है।

‘(तुझे) न तो विषयोंका स्वाद है और न ही विषयोंका ज्ञान; परन्तु रागका स्वाद तथा ज्ञानका ज्ञान।’ क्या कहते हैं? कि विषयोंका तो स्वाद नहीं है। स्वाद है वह रागका है।

मुमुक्षु :- लड्डुका स्वाद नहीं है?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, लड्डुका स्वाद नहीं है, परन्तु उसकी पर्यायमें जो राग है उसका अनुभव है, उसमें अहंपना करता है, ऐसा अनुभव करता है। इसलिये उसका स्वाद है-उसका अनुभव है, ऐसा कहा है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानमें उसका प्रतिबिंब उठता है। सर्व ज्ञेयोंके जो धर्म हैं... यदि ज्ञानको पकड़कर अवलोकन करनेमें आये तो चमत्कारिक ऐसा जो ज्ञानका स्वभाव वह ज्ञात होता है। अरे..! यह ज्ञान पर पदार्थमें नहीं जानेके बावजूद ज्ञेयोंके प्रतिबिंबको बराबर प्रतिबिंबित करता है। अपनी स्वच्छताके कारण, अपनी ही निर्मलताके कारण सभी प्रतिबिंब बराबर प्रतिबिंबित होते हैं और फिर भी ज्ञान ज्ञानरूप रहता है, मात्र ज्ञानरूप रहता है, अविकृत ज्ञानरूप रहता है, अविकार ज्ञानरूप रहता है, यह ज्ञानका स्तुतिपात्र चमत्कार है। कैसा चमत्कार है!

मुमुक्षु :- दृश्यमान..

पूज्य भाईश्री :- अदृश्यमान माने क्या?

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- नहीं, दृश्यमान यानी उसका रूप नहीं है। परन्तु उसे शब्द तो है न? इसलिये ज्ञेयत्व तो है। शब्दसे उसका ज्ञेयत्व है, किसीको गन्धसे उसका ज्ञेयत्व है, किसीको स्पर्शसे उसका ज्ञेयत्व है। वर्ण हो तो ही उसे दृश्यमानपना कहें, वह तो चक्षुइन्द्रियके विषयसे कहते हैं। परन्तु ज्ञानमें अनेक प्रकारसे ज्ञेयोंके धर्म प्रतिबिंबित होते हैं। फिर वह गन्ध हो, शब्द हो, स्पर्श हो, कोई भी प्रकार हो। तो भी ज्ञानमें जानना होता है, उसमें ज्ञान ज्ञानरूप रहता है।

परपदार्थोंके प्रतिबिंबके कालमें भी ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है। ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता। अब, ज्ञान ज्ञानरूप रहता है उस दृष्टिकोणसे ज्ञानका अवलोकन करना है। भले ज्ञेय प्रतिबिंबित हों, तो भी ज्ञान मात्र ज्ञानरूप रहता है, उस दृष्टिकोणसे ज्ञानको देखना चाहिये। उस दृष्टिकोणसे ज्ञानका अवलोकन करना चाहिये। और ऐसा एक अभ्यास करना चाहिये, Practice करनी चाहिये। यह रीत बदलनेकी आवश्यकता है।

क्या कहा? भले अन्य ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात हो। वेदना पर्यंतका, हाँ। टकोरा तो घड़ीमें बजते हैं, अथवा बाहरमें रास्ते पर वाहन जाय और आवाज़ आये, वह सब तो वहाँ होता है। परन्तु यहाँ देखे तो उसका प्रतिबिंब यहाँ उठता है। परन्तु वेदना है वह भी ज्ञानका ज्ञेय है। शरीरकी जो वेदना है, उसकी मौजूदगी ज्ञानमें नहीं है, उसकी सत्ता ज्ञानमें नहीं है। वेदना वेदनामें है और ज्ञानमें नहीं है। ज्ञान ज्ञानमें है, वेदना प्रतिबिंबित होती है तो भी ज्ञान ज्ञानरूप रहता है, अविचार रहता है। वेदनारूप नहीं होता है।

भाईका हाथ कट गया था, उस दिन Ambulanceमें यही चर्चा चली थी कि देखो! यह वेदना है उसकी सत्ता अलग है, अन्दरमें ज्ञानकी सत्ता भिन्न है। ज्ञानमें वेदना नहीं है और वेदनामें ज्ञान नहीं है। उस वक्त उदय

वह है न। उदयसे भिन्न पड़ना है। दूसरे पदार्थसे भिन्न पड़नेमें अभी उतनी सूक्ष्मता नहीं आयेगी। जैसे कि आकाशादिका जानना लिया। परन्तु जो उदयमान पदार्थ है, वहाँसे भिन्न पड़ना चाहिये। जिसे Practice और शुरूआत करनी हो तब। सहज भिन्नता और सहज भेदज्ञान सिद्ध नहीं हुआ हो, जब तक उसमें सिद्धि प्राप्त नहीं हुयी हो, भेदज्ञानकी सिद्धि न हुई हो, भेदज्ञानकी लब्धि नहीं आयी हो, तब तक उस भेदज्ञानको संप्राप्त करनेके लिये उसे उदयकालमें वेदना आदिका तीव्र उदय है, वह तीव्र प्रयोगका मौका है, प्रयोगका प्रसंग है। प्रयोगका बहुत अच्छा प्रसंग है, बहुत अच्छा साधन है। फोड़ा हुआ हो और परुकी वेदना अन्दर होती हो, माथा हो और माथेमें वेदना होती हो, पेटमें वायु हुआ हो, छातीमें घबराहट होती हो, ये सब जो प्रसंग है, उसमें भिन्न ज्ञान क्या है और उस भिन्न ज्ञानमें ज्ञात हो वह वेदना क्या है, उसकी भिन्नतामें जानेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि वहाँ यह प्रयत्न करनेमें आये तो काम बहुत सरलतासे होता है।

सही मौके पर हथियार हाथमें लिया जाय तो अन्दरसे अनन्त सामर्थ्यका धनी उसकी मददमें आता है। यदि सही मौके पर लड़ाई करे तो। और लही मौके पर लड़ाईका मैदान छोड़कर पीठ बताये तो मरा, गया वह, वह धिर जायेगा, राग-द्वेष-मोहमें धिर जायगा। वह हार जायगा। इसलिये कोई प्रतिकूलताके प्रसंगमें उलझनमें आने जैसा नहीं है। पहली बात तो यह है।

ज्ञानीको तो प्रतिकूलता ही वास्तवमें अनुकूलता है। इसलिये मृत्यु जैसे प्रसंगको शास्त्रमें महोत्सव कहा है। जैसे भगवानकी प्रतिष्ठाका आठ दिन महोत्सव करते हैं और उसमें भगवानको अच्छी तरह मन्दिरमें-निज मन्दिरमें स्थापित करते हैं, उसे भी निज मन्दिर कहते हैं। वैसे इस मृत्यु महोत्सवमें परिणामरूपी श्रद्धा-ज्ञानरूपी निज मन्दिरमें आत्माकी स्थापना करनेका प्रतिष्ठा महोत्सव है। प्रतिकूलताका कोई प्रसंग नहीं है। वास्तवमें तो ऐसा है। प्रतिष्ठाका अर्थ ही-अच्छी तरह स्थापित करना है। श्रद्धासे,

ज्ञानसे, आचरणसे अच्छी तरह स्थापना करनी कि जो स्थापना सादिअनन्त काल पर्यंत उथापित करनेका सवाल नहीं रहता। इसे तो कोई कालांतरमें उथापे, परन्तु इस स्थापनाको कोई उथाप नहीं सकता।

कहते हैं कि, 'रागका स्वाद...' है, जब तू परपदार्थका स्वाद ले रहा हूँ, ऐसा मानता है तब भी तुझे रागका स्वाद है और उस समय तुझे ज्ञानका ज्ञान है। जो पर पदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिंबित हुए और वह ज्ञानगोचर हुआ, उसका तुझे अनुभव है। रागका अनुभव है और ज्ञानका अनुभव है, ऐसा कहना है। परन्तु रागमें मैंनेका अनुभव होनेके कारण ज्ञानका अनुभव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानवेदन तिरोभूत हो जाता है और रागवेदन आविर्भूत होता है। १५वीं गाथामें वही कहा कि तू ज्ञानवेदनका आविर्भाव कर, ज्ञानका आविर्भाव कर और रागादिको तिरोभूत कर। यह विधि कहो, रीत कहो, जहाँ तक विधि और रीतका सवाल है, तब विधिके प्रकरणमें जो आविर्भाव और तिरोभाव हो रहा है, उससे ऊलटा होना चाहिये, इतनी बात है।

मुमुक्षु :- जहाँ वेदना हो रही है वहाँ उपयोग नहीं लगाना, जहाँ वेदना जाननेमें आती है वहाँ उपयोग लगाना।

पूज्य भाईश्री :- जहाँ वेदना जाननेमें आती है वहाँ तू तुझे जान। और तेरे अस्तित्वको ग्रहण कर। वहाँ तू ज्ञानमें तेरे अस्तित्वको ग्रहण कर। क्योंकि नहीं तो तुझे वेदनामें तेरा अस्तित्व ग्रहण होता है। नहीं तो क्या होता है? कि वेदनामें तेरा अस्तित्व तुझे ग्रहण होता है। यह तुझे बन्धन है, इससे तू बन्धता है। तू देख ज्ञानमें। और तू ज्ञानका अवलोकन कर तो तुझे ज्ञात होगा कि ज्ञान तो कोई भी ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिबिंबित हो, तो भी ज्ञान ज्ञानरूप रहता है, ज्ञानको दूसरा क्या हो जाता है? बताईये कि ज्ञानको दूसरा क्या हो जाता है? ज्ञानको कुछ नहीं होता है।

जैसे अनेक स्वाद जीभ पर आने पर भी जीभमें कौनसा स्वाद रह जाता है? कहिये। एक भी रह जाता है? वह तो रूखी है। वैसे ज्ञान भी स्वभावसे रूखा ही

है। अनेक ज्ञेय ज्ञात होने पर भी किसी भी ज्ञेयको वह अपने अन्दर समाविष्ट नहीं करता, कोई भी ज्ञेयके स्वादको और ज्ञेयके अनुभवको वह मिलाता नहीं। उसके ऊपरसे चला जाता है। प्रतिबिंब आता है और जाता है, आता है और जाता है। ज्ञान ज्ञानरूप ध्रुव रह जाता है। ज्ञान ज्ञानपने ध्रुव रह जाता है। ज्ञानमें कोई विकृति नहीं हो सकती, कर नहीं सकते, आ नहीं सकती। इस तरह ज्ञानका स्वरूप समझाते हैं।

'विषय पर है, राग क्षणिक है...' जो विषय-ज्ञेय है वह तो भिन्न क्षेत्रमें रहे भिन्न पदार्थ ही हैं। वह तो अति स्पष्ट पर पदार्थ है। और राग तेरी अवस्थामें होता है वह क्षणिक भाव है। कोई राग ध्रुव नहीं है। कोई राग, तुझे सुहाता राग भी टिक नहीं सकेगा, उसे रख नहीं सकेगा, वह चला जायगा। क्योंकि वह क्षणिक चीज है, अल्प आयुवाली चीज है, क्षणभरमें नाश हो जाना ऐसा ही उसका स्वरूप है।

'स्वभावमें नहीं है।' पुनः वह पर ऐसे विषय और राग दोनों स्वभावमें नहीं है। 'ज्ञान-पर्याय ज्ञानस्वभाववानकी है।' ऐसे लेते हैं। एक Paragraphमें कितनी बातें की है। 'विषय पर है, राग क्षणिक है...' दोनों स्वभावसे बाहरकी चीज है, तेरेसे भिन्न जातकी बिलकूल भिन्न वस्तु है और 'ज्ञान-पर्याय ज्ञानस्वभाववानकी है।' जो ज्ञानकी पर्याय है वह जो ज्ञानस्वभाव है, ऐसा जो स्वभाववान पदार्थ है उसकी ज्ञानकी पर्याय है। ज्ञानस्वभावी आत्मा है और उसकी ज्ञानपर्याय है। स्वभाववानकी ज्ञानपर्याय है। रागकी पर्यायको आत्माकी-स्वभाववानकी पर्याय नहीं कहा।

देखिये! कहाँ कितना फ़र्क है यहाँ! कहलानेवाले जैन संप्रदायमें तीनों फिरकोंमें रागको धर्म मानकर कोई न कोई प्रकारके रागको धर्म मानकर संप्रदायका पूरा समूह धर्म करनेमें लगे हैं। उसे कहते हैं, बापू! तेरे स्वभावमें नहीं है। जो चीज तेरे स्वभावमें नहीं है, वह तेरा धर्म कैसे होगा ये तो बता? उसे तू तेरा धर्म कैसे गिनेगा या करेगा? वह तो तेरे स्वभावसे विरुद्ध जातिका (है)।

तेरा स्वभाव-वीतराग स्वभाव और राग तुझसे विरुद्ध जातिका भाव है। तेरे स्वभावकी चीज ही नहीं है वह। ऐसी भूल (करता है)। उसे 'मणमें नव पानशेरीनी भूल' (गुजराती कहावत) कही है। आठ पानशेरीकी भूल हो तो पूरी-पूरी भूल है। आठ पान शेरीका मन होता है न। आठ बट्टा पाँच, चालीस। ये तो उससे अधिक भूल है, नौ पानशेरीकी भूल है। परन्तु मान्यताने ऐसा घर बनाया है कि कोई ऐसा कहे कि तू जो यह राग करता है वह धर्म नहीं है। परन्तु मैंने तो संयमका राग किया है। व्रत, संयमका राग तो प्रशंसाप्राप्त राग है न। हमने तो संयम अंगीकार किया है और हमें धर्म नहीं है, ऐसा आप कहते हो। जाइये आपकी बात हमें नहीं सुननी है, ऐसा कहे।

भाई! तेरा स्वरूप कोई अलग जातिका है और तेरे स्वरूपका स्वरूपधर्म वह कोई अलग जातिका है। तू जो रागके रसको रगड़ता है, किसी भी बहाने, वह तेरे आत्मासे दूर जानेकी बात है। देखिये! नकुल और सहदेवको शेत्रुंजय पर्वत पर शुभराग हुआ। उतना ही हुआ। कितना अल्प हुआ है। वह भी निज देह सम्बन्धी नहीं हुआ है। मुनि थे, भावलिंगी मुनि थे। अरेरे..! इन धर्मात्माओंका क्या होता होगा? धर्मराजा युधिष्ठिर, अर्जुनका क्या होता होगा? ऐसा उपसर्ग किया, क्रूर किया है। दूर्योधनने उपसर्ग किया है। दूसरे तीन तो ध्यानमें डूब गये हैं। जिनकी चिन्ता हुयी वे तीनों तो स्वरूपमें डूब हुए हैं, श्रेणी लगाकर सिद्धालयमें गये। इनको विकल्प हुआ तो गये सर्वार्थसिद्धिकी जेलमें। अभी भी वहींके वहीं हैं। अभी भी वहीं है। ३३ सागर है। अभी तो श्रीकृष्णके समयमें पाण्डव हुए हैं। ८४००० वर्ष हुए। ये लोग ५००० वर्ष मानते हैं। भगवान नेमिनाथके कालमें। २१वें तीर्थकर हैं न? २२वें नेमिनाथ, २३वें पार्श्वनाथ। क्रम याद नहीं है। ८४००० वर्ष हुए।

मुमुक्षु :- ५००० वर्ष हुए।

पूज्य भाईश्री :- ५००० वर्ष हुए। नेमिनाथ भगवान और महावीर भगवानके बीच अंतर कितना? २५०० वर्ष

तो भगवानको हुए। उसके पहले २५०० वर्ष ही हुए थे? कितने हुए थे चतुर्थ कालके?

मुमुक्षु :- पाँचवे-छठेका माप।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पाँचवे-छठेका माप नहीं, ये तो पाण्डवोंकी हयाती कब थी वह बात है।

कहते हैं कि ३३ सागर तो अभी पूरे नहीं हुए हैं। हज़ारोंमें, जो भी गिने हज़ारोंमें है न। चलिये। ये तो असंख्य अरबों वर्ष जाते हैं। ३३ सागर अर्थात् असंख्य अरबों वर्ष जाते हैं। तब तक वहीं सर्वार्थसिद्धिमें चतुर्थ गुणस्थानसे बाहर नहीं जा पायेंगे। चतुर्थ गुणस्थानसे आगे नहीं बढ़ पायेंगे, पाँचवा नहीं आयगा। छठे-सातवेंसे नीचे गये हैं। राग हुआ है, आयुष्य छोड़ा है। छठे-सातवेंमेंसे चौथे गुणस्थानमें गये हैं। परन्तु दोष है। दोष है सो दोष है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- आये तो दोष हो और दोष हो तो ऐसी स्थिति होगी। विकल्प आये तब उसका मुनिपना नाश नहीं होता। उस समय मुनिपनाका नाश नहीं होता। उस मुनिपनेकी स्थितिको वहाँ घात नहीं करता।

मुमुक्षु :- गुरुके स्थानमें...

पूज्य भाईश्री :- भले गुरुके स्थानमें हो, कोई भी हो, परन्तु पर प्रतिका विकल्प राग है और राग है सो दोष है। उसमें दोषकी मर्यादा इतनी है कि उस समयकी मुनिदशाका वह राग घात नहीं करता। इतना मन्द है, फिर भी उस समयकी मुनिदशाका घात नहीं करता। परन्तु उस रागने सिद्धिको तो रोका ही है। जो सिद्धालयमें जानेकी सिद्धदशा, उस सिद्धिकी जो सिद्धि है उसे तो रोक ली।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- सच्ची बात है। रागका बड़ा समुद्र है। स्वयंभुरमणसमुद्र जैसा समुद्र है। रागका कितना बड़ा समुद्र है? कि स्वयंभुरमण समुद्र जैसा रागका समुद्र है। जो आत्मा अंतरंगमें भेदज्ञान करके रागसे भिन्न हुए, वे स्वयंभुरमण समुद्रको तिर गये, ऐसा कहते हैं। ऐसा उनका अपूर्व पराक्रम है। श्रीमद्जी उसे ऐसा कहते हैं कि भूजासे वे स्वयंभुरमण समुद्रको तिरें हैं। दस हजार सुभटको अकेले

हराना आसान है, रागसे भिन्न पड़ना और रागको जितना इतना आसान नहीं है। वह बातें की हैं।

गुरुदेवने तो इस एक ही विषय पर ४५ साल स्पष्टिकरण किया है। रागसे कैसे भिन्न पड़ना और कैसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना? इतनी बात ली है। इस पर ४५ साल प्रवचन किये हैं।

क्या कहते हैं? कि जीवको रागका स्वाद है और ज्ञानका ज्ञान है। **‘विषय पर है, राग क्षणिक है व स्वभावमें नहीं है। ज्ञान-पर्याय ज्ञानस्वभाववानकी है।’** इस तरह सबको अपने-अपने खातेमें खताना चाहिये। पर पदार्थको पर पदार्थके खातेमें डालना चाहिये, रागको रागके स्थानमें रहने देकर स्वयं ज्ञानस्वभावी है, उसे ज्ञानकी पर्याय द्वारा स्वयंको स्वयंका वेदन करना चाहिये। स्वयंको स्वयंका अनुभव करना चाहिये। यह शान्तिकी रीत है। दूसरी कोई तीन काल तीन लोकमें शान्तिकी-आत्मशान्तिकी रीत नहीं है। मनकी शान्ति तो मनोरंजन करके तू थोड़ी दे ले लेगा, परन्तु उसमें तेरा अशान्तिका रोग नहीं मिटेगा।

बहुत जलन होती हो और कोई ऊपरसे फ़ौआरा छिटके, ये Spirit ठण्डा होता है न? Spiritका फ़ौआरा डॉक्टर छिटकते हैं। इसलिये वह शीतलता थोड़ी देर ठीक लगे, लेकिन पुनः जलन शुरू होती है। क्योंकि है तो Spirit। वैसे मनोरंजनसे तुझे थोड़ी देर शान्ति लगेगी अथवा ऊपर-ऊपरके न्यायसे तेरा कषाय मन्द होगा तब तुझे ऐसा लगेगा कि ज्ञानमें न्याय समझमें आये इसलिये मुझे शान्ति रहती है। परन्तु तेरा ध्रुवधामका आश्रय लिये बिना और ज्ञानको वेदे बिना, आत्माको अन्दर सावधान होकर अहंपने वेदे बिना कोई मूलमेंसे अशान्ति मिटती नहीं और आत्माकी शान्ति उत्पन्न होती नहीं।

‘ज्ञान-पर्याय ज्ञानस्वभाववानकी है। इस प्रकार राग रहित नित्य ज्ञान-स्वभावीकी दृष्टि होती है।’ इसमें ज्ञानपर्याय ज्ञानस्वभाववानकी है उसमें पर्यायको नहीं ग्रहण करवानी है। यहाँसे लिया। **‘इस प्रकार राग रहित नित्य ज्ञान-स्वभावीकी दृष्टि...’**

हो, स्वभावकी दृष्टि हो, स्वाभाविक तत्त्वकी दृष्टि हो तो उसे धर्म होता है, ऐसा कहना है। तब तक धर्म हो ऐसा नहीं है। **‘ऐसा समझे तो निमित्तबुद्धि...’** अर्थात् परपदार्थमें अहंपनेकी बुद्धि, उसे निमित्तबुद्धि कहते हैं। जो ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हैं, वह ज्ञानमें निमित्त हैं। उस निमित्तमें अहंपनेकी बुद्धि मिथ्याबुद्धि है। वह निमित्तबुद्धि छूटे। राग होता है उसे अहंपने वेदता है- अनुभवता है, वह रागबुद्धि है। वह रागबुद्धि भी छूटे और स्वभावबुद्धि हो। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, ऐसे स्वभावमें अहंपना करने पर स्वरूपका स्वसंवेदन और स्वरूपका संचेतन उत्पन्न हो, उसे स्वभावबुद्धि हुयी ऐसा कहनेमें आता है। स्वभावमें अहंपना हुआ ऐसा कहते हैं। तभी धर्म होता है। तब उसने सम्यक् प्रकारसे विषय-कषाय पर विजय प्राप्त की, तब वह जैन हुआ। तब तक जैनत्व नहीं है, जैन तो तब होता है। संप्रदायमें जन्मा इसलिये जैन, ऐसा तो जैनधर्ममें नहीं है, संप्रदायमें भले ही हो, परन्तु धर्ममें तो ऐसा नहीं है। धर्म अलग चीज है, संप्रदाय अलग चीज है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- नक्की कर लेना।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- किसीको ऐसा Title देनेसे क्या फायदा है? किसीको दुःख हो। हम जैन नहीं है ऐसा कहते हो? क्या हम अजैन हैं? भाई! जैनत्व तो ऐसे होता है। आत्मस्वभावमें स्वभावबुद्धि होने पर जैनबुद्धि होती है। जैनत्व कोई संप्रदायका या कुलधर्मका प्रकार नहीं है कि उससे जैनत्व आ जाता है। ऐसा कुछ है नहीं।

मुमुक्षु :- व्यापारी बनिया कहलाता है।

पूज्य भाईश्री :- व्यापारी बनिया कहलता है, ऐसा न? व्यापार करे। नीतिका करता है या अनीतिका व्यापार करता है? ऐसा है।



पूज्य बहिनश्री की तत्वचर्चा



प्रश्न :- अंतर्मुख वृत्ति होती है, परंतु वह धाराप्रवाह नहीं रहती, छूट जाती है; उसके लिये क्या करे?

समाधान :- अनादि से (परमें) एकत्व का अभ्यास हो रहा है, इसलिये यह कठिन हो गया है। स्वसे एकत्व और परसे विभक्त ऐसा अपना स्वभाव सहज है, तथापि अनादिका अभ्यास-आदत होनेसे (परमें) एकत्व सहज ही हो जाता है और स्वभावमें प्रयत्न करे तब मुश्किलसे होता है; तथापि भेदज्ञानका अभ्यास ज्यों का त्यों चालु ही रखे तो सहज हो। शुरुआतमें प्रयत्न कर-करके वह अभ्यास करता रहे तभी दृढ़ होता है।

मुमुक्षु :- प्रारंभमें भेदज्ञानका अभ्यास सहज क्यों नहीं चलता?

बहिनश्री :- 'मैं भिन्न हूँ'-इस प्रकार स्वभावको ग्रहण करके अभ्यास करता रहे तो उसे सहज होनेका अवकाश है। आत्मा सहज स्वभावरूप है और उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी सहज हैं,-सब सहज हैं; परंतु इस ओर प्रयत्न नहीं मुड़ता, इसलिये कठिनाई पड़ती है। उसे प्रारंभमें प्रयत्न कर-करके अपनी ओर मुड़ना पड़ता है, फिर तो उसका स्वभाव सहज है; इसलिये उसकी परिणति सहज ही अपनी ओर आती है। पहले परिणतिको प्रयत्न कर-करके अपनी ओर मोड़ना है, क्योंकि अनादिका (विपरीत) अभ्यास है।

(स्वानुभूतिदर्शन-५८७)



प्रश्न :- उपदेश सुनकर वृत्तिमें दृढ़ता नहीं आती, उसका क्या कारण है?

समाधान :- दृढ़ता नहीं आनेका कारण स्वयं ही है, दूसरा नहीं है। स्वयं दृढ़ता लाये तो आती है। अनादिकालका जो अभ्यास है उसीमें चला जाता है और स्वरूप दिखाई नहीं देता इसलिये दृढ़ता नहीं आती; परंतु आत्माको लक्षणसे पहिचानकर निश्चित करना चाहिये। जो आत्मा सुख-आनंदकी इच्छा कर रहा है वह स्वयं सुखरूप है। वह बाहरसे सुखकी आशा रखके सुख-आनंदकी प्राप्तिके लिये उत्सुक रहता है, परंतु सुख बाह्यमें से मिलता नहीं, इसलिये आकुल-व्याकुल रहा करता है। सुखकी इच्छा करनेवाला स्वयं ही सुखस्वरूप है; इसलिये बाह्य आश्रय छूट जाय और स्वयं एकाकी रह जाय तो अपने अंतर से सुख एवं आनंद प्रगट होते हैं और वह निर्णय स्वयं करे तो होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-५८८)



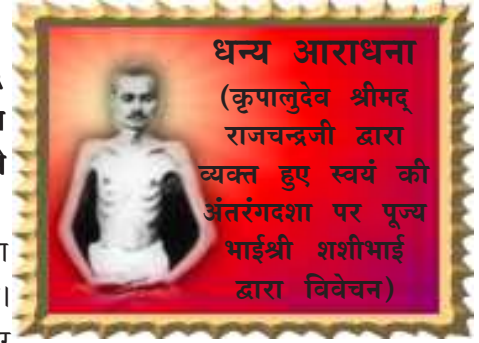
८५१

मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी १४, गुरु, १९५५
'अभी मानसिक वृत्तिकी अपेक्षा बहुत ही प्रतिकूल
मार्गमें प्रवास करना पड़ता है। (उदयभावको) तमहृदयसे
और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ।'
अपने अभिप्रायसे विरुद्ध बाह्य परिस्थितिका अनुसरण करना
पड़ता है, तत्त्वसंबंधित यह वचनमृत गूढ़ भाषामें लिखा गया है।

स्वयंका अभिप्राय तो पूर्ण वीतराग होनेका है, और तदनुसार
अध्यात्मदशाकी प्राप्ति हुई है। एक भी विकल्प, आँखमें कल नहीं सहन कर सकता हो, वहाँ रेत उठानेकी
माफिक, वर्तमान निराकुलदशाको प्रतिकूल है, अर्थात् अनेक विकल्पयुक्त प्रवृत्तिमेंसे गुजरना पड़ता है; ऐसा
प्रवास अंतरदशासे बहुत ही प्रतिकूल है।

तत्संबंधित उदयभावोंको तमहृदयसे फिर भी आत्मशांतिपूर्वक सहन कर लेना और उस प्रकार पूर्व प्रारब्धका
अंत लानेमें हर्ष मानना-इसप्रकार परस्पर विरुद्ध अंशवाले भाव परमार्थकी अपेक्षा अवरोधताको प्राप्त होकर
आत्मलाभरूप होते हैं, उसे सम्यक् समाधानरूप जानने योग्य हैं।

उक्त वचनमृतसे कृपालुदेवकी दशामें आत्मशांतिका सविशेष विकास प्रदर्शित होता है।



धन्य आराधना

(कृपालुदेव श्रीमद्

राजचन्द्रजी द्वारा

व्यक्त हुए स्वयं की

अंतरंगदशा पर पूज्य

भाईश्री शशीभाई

द्वारा विवेचन)



पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधर्मियों को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र

१३

अजमेर

१७-१-१९५४

आत्मार्थी... धर्मस्नेह।

आपका पत्र मिला। समाचार निगाह किये। इस समय सोनगढ़ का वातावरण विहार की अद्भुत उमंगों
से भरा हुआ होगा। सर्वश्रेष्ठ नेता सहित मोक्षमण्डली स्थान-स्थान पर विजय का स्तंभ रोपने जा रही है,
यह विचार हृदय को खूब उल्लसित करता है। दुर्भाग्यवश मुझे ऐसे अवसर पर वहाँ नहीं रहने का खेद
है। आशा है गुरुदेवश्री का आत्मस्वास्थ्य व शारीरिक स्वास्थ्य निरंतर वृद्धिगत होंगे।

आपने व्यावसायिक, यहाँ की मेरी परिस्थिति बाबत पूछा सो इस विषय को आपको लिखने का
विचार नहीं होता है। हमारी नींव तो मुक्तिरस के विचारों पर पड़ी है। दूसरे विचारों में आपको रस आवे,
यह मुझे अच्छा नहीं लगता। अभी कार्यवश पत्र बंध करता हूँ। आपका प्रोग्राम लिखते रहना। स्वस्थान
को मुख्य रखकर ही परस्थानों के क्षणिक विकल्पों का सहज ज्ञान होता रहे, यह ही इच्छा है।

धर्मस्नेही निहालचंद्र

